Airo International Research Journal
Volume XIII, ISSN: 2320-3714
November, 2017

ज्ञान-विज्ञान विमुक्तये
UGC Approval Number 63012

वेदों में पुरुषार्थ की परिकल्पना : एक भारतीय संदर्भ

डॉ० जगतनारायण
माँ दुर्गानगर, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

सारांश

इस प्रकार वैदिक ऋषियों द्वारा उपदिष्ट या संकेतित पुरुषार्थ सम्बन्धी उपर्युक्त वचनों के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों का चिन्तन समृद्ध भौतिक जीवन की पूर्णता में ही आध्यात्मिकता के प्रशस्त मार्ग का अन्वेषण करता था । उनका दृढ़ विश्वास था कि नियम और संयमपूर्वक पूर्ण निष्ठा से सम्पादित पुरुषार्थों की व्यापकता और महत्ता लौकिक और पारलौकिक जीवन के अंदर को भर सकती है, क्योंकि कर्त्तव्यों का सुगमता पूर्वक सम्पादन और परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति-भावना का प्रदर्शन पुरुषार्थ के माध्यम से ही सम्भव है, जैसा कि गीता भी संकेत करती है । अतः वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थ त्रिविध (आध्यात्मिक, आदिदैविक और आधिभौतिक) दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु नहीं था, प्रत्युत भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिए था, जिससे आध्यात्मिक सिद्धि का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाता है ।

भारतीय मनीषियों की परम्परा बहुत प्राचीन है । यह परम्परा किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा प्रारम्भ नहीं की गई किन्तु यह हमारे विशिष्ट ऋषि मुनियों, साधु संतों व कर्मयोगी-कर्मशील राजाओं की उत्कृष्ट चिन्तन शक्ति का सुफल है जो पहले गुरु परंपरा द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी चलता ज्ञान प्रवाह निरंतर हमारे तक अर्थात् वर्तमान 21वीं शताब्दी तक पहुँचा है । किंतु वर्तमान में इस ज्ञान परंपरा का स्वरूप बदल गया है, कहने का अर्थ है कि महर्षि व्यास जी ने ज्ञान प्रवाह परंपरा को लिपिबद्ध किया था । गीता में भी जैसे पुरुषार्थ के विषय में कहा गया है - कर्मण्येवाधिकारस्ते कर्मणि ।।[1] उसके बाद यह परंपरा हमारे शास्त्रों द्वारा जीवित रखी गई । जिसमें हम ब्राह्मणिक व आरण्यिक शास्त्रों द्वारा मनुष्य की ज्ञानपिपासा को तृप्त करने का ऋषियों मनीषियों द्वारा अथक प्रयास किया गया है ।

ऋषियों ने एक सभ्य समाज की नींव रखने के लिए पुरुषार्थ परिकल्पना की । उन्होंने एक सभ्य/उत्कृष्ट संस्कृति को व्यावहारिक जीवन में लाने के लिए सामाजिक ताने-बाने की व्यवस्था की, जिससे समाज को सुचारू रूप में सुव्यवस्थित किया जा सके । सबसे पहले उन्होंने मनुष्य जीवन के लक्ष्य को निर्धारित किया और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने दो रास्ते-निवृत्ति व प्रवृत्ति दिखाए । सामाजिक संरचना इस तरह से सुदृढ़ की गई कि व्यक्ति हंसते-हंसते उस परम लक्ष्य को, उस परम पुरुषार्थ को पाकर इहलोक व परलोक को सफल बनाया जा सकता है । प्रस्तुत शोध-पत्र में इसी पुरुषार्थ को पूर्ण विवेचन से प्रस्तुत करने का शोधकर्त्ता का परम लक्ष्य है ।

ऋषियों-मनीषियों ने मानव जन्म का चार पुरुषार्थ - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। दृष्टिगोचर यह है कि मनीषियों ने चारों पुरुषार्थ को एक कर्मबद्धता प्रदान की है जिसमें सबसे पहले धर्म को रखा गया है क्योंकि मनीषियों का मत था कि धर्मविहीन या अधार्मिक मनुष्य पुरुषार्थ तो क्या, सभ्य जीवन भी नहीं जी सकता क्योंकि चारों पुरुषार्थों की जड़ धर्म में ही निहित है । इसी धर्म को कई नामों से पुकारा जाता है जैसे -मानवधर्म, नैतिक धर्म, पुरुषार्थ धर्म, स्त्री धर्म आदि । इसी धर्म को मूल दया है । दया के बिना सिद्ध को भी कसाई की संज्ञा दी गई है । अगर हम विहंगम दृष्टि से भारतीय शास्त्रों का अध्ययन करते हैं तो यह दृष्टिगत् होता है कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड को चलाने के लिए धर्म धुरी का कार्य करता है और धर्मध्वज तभी फहराया जा सकता है जब

प्रत्येक मनुष्य स्वयं धर्म धारण करके अपना जीवन उपार्जन करता है । इसी धर्म को बचाने के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने मुखारबिंद से कहते हैं –

"यदा यदा हि धर्मस्य....."[2]

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि साधुओं की रक्षा व धर्म की स्थापना हेतु वे बार-बार अवतृत होते हैं । पुरुषार्थ के क्रम में द्वितीय स्थान पर अर्थ को रखा गया है । अर्थ के साधनों पर विशेष बल दिया गया है क्योंकि अगर हमारे अर्थ कमाने के साधन, सात्विक होंगे तो हमारे गृहस्थ जीवन में खुशियां ही खुशियां मिलेंगी । कहने का अर्थ है कि हमारे कर्मयोग में अर्थ अर्थात् अन्न का बहुत महत्त्व है । हम जैसा अन्न ग्रहण करते हैं वैसा ही हमारा मन बनता है । अगर हम अर्थ-उपार्जन के साधन तामसिक रखते हैं तो हमारा जीवन निकृष्ट बन जाता है । इसलिए ऋषियों ने अर्थ के महत्त्व पर बहुत बल दिया है । इसी क्रम में तीसरे स्थान पर काम को रखा गया है । यहां पर सोचने वाली बात यह है कि काम को भी धर्म के अनुसार ग्रहण करने का आदेश दिया गया है । इसका अर्थ यह है कि काम, काम वासना न होकर सात्त्विक काम की ओर संकेत किया गया है जिससे इस संसार को चलाने हेतु संतान पैदा करना प्रकृति की सहतार्थ नैतिक कर्त्तव्य माना गया है । ऋषियों ने यह भी कहा है कि चौथा पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष उस व्यक्ति के पास स्वयं ही चलकर आ जाता है जिस व्यक्ति के पहले तीन पुरुषार्थ सात्विक हैं ।

"पुरुषार्थ" शब्द पुरुष और अर्थ (पुरुष+अर्थ) 'दो शब्दों से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – 'पुरुषस्य अर्थः, प्रयोजनम् वा' अर्थात् श्रेष्ठ या परम प्रयोजन की सिद्धि के लिए मनुष्य द्वारा ज्ञानपूर्वक किया गया प्रयत्न या साधन ।[3] इसका तात्पर्य यह है कि शरीर, मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता (योग और तपयुक्त होकर) से देश, काल, पात्रानुसार अभ्युदय, श्रेयस् और सिद्धि को ध्यान में रखकर विवेकपूर्वक जो कार्य किया जाए, वही पुरुषार्थ कहलाता है। यद्यपि पुराणादि ग्रंथों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है तथा सांख्यसूत्र में तीन प्रकार के दुःखों[4] की आत्यन्तिक (पूर्णतः) निवृत्ति को पुरुष का पुरुषार्थ माना गया है[5], परंतु वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थपरक चिन्तन इससे सर्वथा भिन्न है, जो लौकिक जीवन से कातर होकर मुक्ति पाने के लिए नहीं, प्रत्युत इस जीवन को समृद्ध एवं सुखमय बनाने के लिए किया जाता था, जिसमें भौतिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी थी । वेदों में संकेतित उसी पुरुषार्थ का विवेचन ही प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रतिपाद्य है ।

पुरुषार्थ मनुष्य-जीवन के सर्वांगीण विकास की आधारभित्ति है । इसी के माध्यम से वह अपना जीवन जीता है और मनोयोगपूर्वक विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन करता है । संभवतः इसी लिए प्राचीन भारतीय ऋषियों-मनीषियों ने मानव जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत बनाने के लिए चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) की व्यवस्था की थी । उस आश्रम-व्यवस्था की सफलता 'पुरुषार्थ' पर ही निर्भर थी । वैदिक कालीन जनों का भौतिक सुख आध्यात्मिक सुख से समन्वित होता था, जिसमें संयम, नियम, आदर्श और आध्यात्मिक विचारों की सर्वोत्कृष्ट माना जाता था, क्योंकि संयमितजीवन एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य को सात्विक और निःस्वार्थ जीवन के लिए प्रेरित करती हैं और उसे एक ऐसे वास्तविक आदर्श-जीवन की ओर उन्मुख करती है, जिसमें सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी हो, योग भी हो तथा कामना के साथ-साथ साधना भी हो । इन दोनों प्रवृत्तियों के सम्मिलित और समन्वित स्वरूप वाले वैदिक 'जीवन-दर्शन' को पुरुषार्थ कहा जा सकता है । इस पुरुषार्थ से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तो होता ही है, इसके साथ समुन्नत समाज का भी निर्माण होता है । इसके अन्तर्गत मनुष्य विवेकपूर्वक लौकिक उपभोग के साथ धर्म का अनुसरण करता हुआ ईश्वरोन्मुख होकर मानव जीवन के लक्ष्य का मार्ग प्रशस्त करता है, क्योंकि पुरुषार्थ से ही मनुष्य बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है तथा लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन के लिए क्रमशः उत्साहित एवं उत्कण्ठित रहता है । पुरुषार्थ ही लोक एवं परलोक दोनों के निमित्त किये जाने वाले कर्म में आस्था उत्पन्न करता है और दोनों में सामंजस्य स्थापित करने में सेतु काकाम करता है । भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के मध्य का संतुलित दृष्टिकोण ही पुरुषार्थ का वास्तविक स्वरूप है । वैदिक ऋषि भली-भाँति इस तथ्य से परिचित थे, तभी उन्होंने जीवन के उस अन्तिम सत्य

को उद्घाटित किया है कि जिसे समझकर तदनुसार दोनों (सांसारिक और आध्यात्मिक) मार्गों पर चलता हुआ मनुष्य अपने जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है और अन्ततः जीवन का परम लक्ष्य भी प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है ।[6] कालान्तर में महर्षि मनु भी प्रकारान्तर से वैदिक ऋषियों के इसी मन्तव्य का समर्थन करते प्रतीत होते हैं[7], क्योंकि जीवन का यथार्थ सत्य यही है ।

वस्तुतः पुरुषार्थ का सम्बन्ध कर्म से जुड़ा हुआ है और कर्म का स्वरूप कर्त्ता की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है, जैस कि बृहदारण्यक के ऋषि का मत है कि जो जैसा कर्म करने वाला होता है, जैसा आचरण करने वाला होता है, वह वैसा ही हो जाता है ।[8] कार्य करने की दो प्रवृत्तियाँ होती है - प्रतिभामूलक या प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक । वैदिक ऋषि दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से कर्म किया करते थे ।[9] उनके दोनों प्रवृत्तियों की सम्मिलित शक्तियों से चिन्तन करने का परिणाम ही उपनिषदों का अस्तित्व है, जिनमें तत्त्वज्ञान का विवेचन है । उनकी ऐसी मान्यता थी कि जो कर्म विद्या (ज्ञान), श्रद्धा और उपनिषद् (मनोयोग से युक्त होकर)[10] से युक्त होकर किया जाता है, वह अधिक वीर्यवान् अर्थात् अधिक फल प्रदान करने वाला अथवा शक्तिसम्पन्न होता है?[11] इसका तात्पर्य यह है कि उनके अनुसार स्थिरभाव से मनोयोगपूर्वक कर्म को सम्पादित करना ही पुरुषार्थ का आरंभ है, क्योंकि वे वर्तमान को उत्साहपूर्वक और भविष्य को आशापूर्ण दृष्टि से देखते थे । तभी तो वे कार्य को कल के लिए नहीं छोड़ते थे ।[12] प्रत्युत "सत्या मनसो मे अस्तु"[13] "अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या"[14] तथा "तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"[15] आदि वचनों में अन्तर्निहित भावना से वे कर्म में प्रवृत्त होते थे, क्योंकि उनका पूर्ण विश्वास था कि शिवसङ्कल्पयुक्त मन में असीम शक्ति होती है ।[16] वे कर्म में उत्तरोत्तर वृद्धि का भाव रखते थे, तभी सदैव प्रसन्न रहते हुए उदीयमान सूर्य के दर्शन की कामना करते थे[17] तथा कार्य में सर्वत्र सफलता की अभिलाषा रखते थे ।[18] वे कर्म में विश्वास रखते थे, इसीलिए वे काम में प्रवृत्त रहते हुए सौ वर्ष तक जीवन धारण करने की कामना करते थे ।[19] इन वैदिक वचनों से यह संकेत प्राप्त होता है कि वैदिक ऋषि कर्मयोगी थे, पुरुषार्थी थे और मनोनिग्रहपूर्वक पुरुषार्थ में लगे रहते थे, क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है[20] जिसका संकेत कालान्तर में ऋषि वेदव्यास भी गीता में करते है।[21]

अनेक वैदिक ऋचाओं से ऐसा संकेत प्राप्त होता है कि वैदिक जनों का सांसारिक जीवन कथमपि निराशावादी नहीं था । आशा से भरा हुआ उनका उत्साह उन्हें पुरुषार्थ के लिए उद्यत बनाये रखता था । उनका 'चरैवेति' का श्रमोद्घोष अद्वितीय ही नहीं, प्रत्युत आज भी पुरुषार्थ हेतु प्रेरणादायक मंत्र माना जाता है ।[22] तत्कालीन ऋषियों ने अपने पुरुषार्थ के बल पर ही अत्यल्प साधनों के साथ पृथ्वी को कृषि योग्य बनाया, जंगलों को साफ किया, व्रजों की स्थापना की, झाड़-झंखाड़ों के बीहड़ भूमि को समतल कर अन्नोत्पादक के लिए तैयार किया । घर, गाँव आदि से धरती को आबाद किया तथा भूमि के अन्दर छिपे हुए रत्नों को बाहर निकाला[23] वैदिक ऋषियों को ज्ञात था कि निराशा, व्याग्रता गहरी उदासीनता निश्चय ही स्फूर्ति का विनाश कर देती है, परंतु इसके विपरीत आशापूर्ण, उल्लासपूर्ण जीवन अत्यन्त उत्कर्षाधायक होता है; अतः वे सदैव देवों से आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मनस्थिति में रहने की कामना करते थे ।[24] उत्साह एवं आनंद से परिपूर्ण कर्ममय वैदिक जीवन की जैसी झलक वैदिक वाङ्मय में दृष्टिगोचर होती है, उसका मूलाधार या मूल कारण उनका उदात्त उत्साहपूर्ण चिन्तन है, जिसमें वे स्वयं को सम्पूर्ण भुवन को पराभूत करने वाला तथा सूर्य के समान नित्य ज्योतिस्वरूप वाला मानते हैं ।[25] उनके इस उदात्त संकल्प में उनके पुरुषार्थ का भी अनुमान स्वतः हो जाता है । यही नहीं, वैदिक जनों का आत्मविश्वास भी उनके कर्म की पूर्णता उनके पुरुषार्थ का परिचायक है । ऋषि अथर्वा का यह वचन है कि "मैं स्वभाव से विजयशील हूँ, पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट स्थान है, विरोधी शक्तियों को दबाकर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूँ[26] तथा ऋषभ वैराज का यह कथन है कि "मै शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ, इन्द्र के समान मुझे मारने वाला अथवा कष्ट देने वाला कोई नहीं है, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे सभी बैरी मेरे पैरों तले पड़े हुए हैं[27] तत्कालीन ऋषियों के आत्मविश्वास को

ही प्रकट करते हैं ।दीर्घकाल तक कर्म करने के लिए सौ वर्ष से भी लम्बी आयु और स्वस्थ-सबल शरीर के लिए देवों से उनकी याचना में भी प्रकारान्तर से उनके पुरुषार्थ की भावना ही प्रतिध्वनित होती है ।

एवमेव वेदों में अनेक ऐसे मंत्र हैं, जिनसे आर्यों के पुरुषार्थ का रूप भी स्पष्टत: जाना जा सकता है । वे त्रिविध दु:ख से कातर होकर जीवन से पलायन करने में विश्वास ही रखते थे, प्रत्युत दिव्य पुरुषार्थ के बल से जीवन को सर्वथा समृद्ध बनाने के लिए साठ हजार घोड़ों, दस हजार ऊँटों, तीन हजार भेड़ों, एक हजार गर्दभियों और दस हजार गायों की कामना करते थे ।[28] इसका तात्पर्य है कि वे जीवन को सुखमय बनाने के लिए अधिकाधिक आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करते थे । वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थ व्यक्तिपरक न होकर समष्टिपरक होता था । उनकी यह अवधारणा थी कि समष्टिगत जीवन का विकास हो जाने पर व्यक्ति का उत्कर्ष हो जाता है और तब उसका पुरुषार्थ भी समुज्जवल हो जाता है । ऐसी अवस्था में जीवन की सिद्धियों से ही वह आध्यात्मिक मुक्ति की शक्ति अर्जित करता है । ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में इस उन्नत पुरुषार्थ के संकेत प्राप्त होते हैं । गायों के लिए विशाल व्रज (बाड़े) बनवाने, मोटे-मोटे चमड़े की वर्म (कवच) सिलवाने, लोहे के जैसे सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण करवाने हेतु राजा को प्रदत्त ऋषियों के उपदेश में उसी पुरुषार्थ के दर्शन होते हैं ।[29] इसी प्रकार 'संग्रामशिष:' सूक्त में अभिव्यक्त की महिमा[30] तथा धनुष द्वारा गाय, युद्ध, तीव्र सेनाओं, शत्रुओं, सभी दिशाओं आदि के जीतने की कामना में और संग्राम सम्बन्धी अन्य अस्त्र-शस्त्रादि उपकरणों के दैवीकरण के प्रसंग में व्यक्त विचारों[31] में भी उन्नत पुरुषार्थ द्रष्टव्य है । यही नहीं, देव-सुख के लिए ऋषियों द्वारा खेती हेतु हल जोड़ने, जुआ तानने आदि कर्मों[32] में उनकी प्रवृत्ति उनके पुरुषार्थ को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है । कवच ऐलूष ऋषिदृष्ट 'अक्षसूक्त' के द्वारा कितव को जुआ न खेलने तथा कृषिकर्म द्वारा स्वाभामानपूर्वक एवं सम्मानपूर्वक जीवनयापन हेतु किये गए उपदेश में[33] भी ऋषियों का पुरुषार्थ ध्वनित होता है । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सूक्तों एवं मंत्रों में भी स्पष्टत: पुरुषार्थ की भावना परिलक्षित होती है, जिससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक जन लौकिक जीवन से भागते नहीं थे, बल्कि उसे सुखद एवं समृद्ध बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे ।[34]

एवमेव अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में भी स्फुटता पुरुषार्थ करने का उपदेश एवं उससे होने वाले लाभ-हानि का भी संकेत प्राप्त होता है । ऋषि अङ्गिरादृष्ट विजयसूक्त के एक मंत्र में तो स्पष्टत: यह भावना व्यक्त की गई है कि पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथ में है और विजयश्री बाएं हाथ में तथा इसी पुरुषार्थ में मैं गाय, अश्व धन और सुवर्ण आदि सांसारिक भोगों को प्राप्त करूँ ।[35] इसी सूक्त के एक अन्य मंत्र में पशुपालन रूप पुरुषार्थ द्वारा एवं अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति द्वारा दरिद्रता को दूर करने तथा राज-सम्मान प्राप्त करने की कामना की गई है।[36] ऋषि भृगु के अनेक मंत्रों में पुरुषार्थ की ओर संकेत किया गया है । वे दम्पत्ति को कार्यारम्भ करने तथा उसमें सदैव लगे रहने का उपदेश करते हैं, क्योंकि उनकी दृढ़ मान्यता है कि इसमें (कर्म में) श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ही सांसारिक सुख भोगता है ।[37] उनका यह भी दृढ़ विश्वास है कि यह संसार पत्थरों से भरी नदी है, इसे प्रयत्नपूर्वक एवं शुभ और सुखद पुरुषार्थ से ही पार किया जा सकता है ।[38] ऋषि अथवा के मत में तो जीवन पुरुषार्थ, दक्षता और सुखपूर्वक जीने के लिए होता है ।[39] ऋषि मेधातिथि का ऐसा विश्वास है कि देवता पुरुषार्थ को ही चाहते हैं और आलस्यहीन (कर्मठ) व्यक्ति ही आनंद प्राप्त करते हैं ।[40] ऋषि कृष्ण पुरुषार्थ से अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने का उपदेश करते हैं ।[41] ऋषि वसिष्ठ का मन्तव्य है कि पौरुष प्राप्ति के लिए हम सब इन्द्र के पौरुष की स्तुति करते हैं ।[42] ऋषि सव्य तो ऐसा संकेत करते हैं कि सोते हुए अर्थात् अकर्मण्य का धनादि दूसरों को मिल जाता है[43] तथा ऋषि सुकक्ष यह उपदेश करते हैं कि आलसी होकर न रहो अर्थात् पुरुषार्थ करो[44] परंतु ऋषि सुकीर्ति अथर्ववेद में स्फुट रूप से श्रेष्ठ पराक्रम (पुरुषार्थ) वाले होने के लिए इन्द्र से प्रार्थना करते हैं ।[45] इस प्रकार अथर्ववेदीय उपर्युक्त ऋषियों के वचनों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पुरुषार्थ का ही संकेत प्राप्त होता है । वेदों में ऐसे अनेक मंत्राश हैं जिनमें पुरुषार्थ के बल पर भौतिक जगत् को सुखमय बनाने की कामना की गई हैं ।

वैदिक ऋषियों में सत्य के प्रति गहरी और तीव्र आस्था थी । उन्होंने उस तत्त्व को जान लिया था, जिसको जान लेने के बाद कुछ भी जानने योग्य अवशिष्ट नहीं रहता । वे शोक, मोह से ऊपर उठकर[46] समस्त भूतों में एकात्मदर्शन द्वारा स्वयं को आत्मस्थित जानकर अनासक्त बुद्धि से संसार के कर्मों का निर्वाह करते थे; अतः वे 'मुक्त' जैसे ही थे। उन्हें पुरुषार्थ निष्ठा द्वारा त्रिविध तापों से छुटकारा पाकर निर्वाण प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी । इसीलिए उनका पुरुषार्थ निष्ठा से जागतिक कार्यों के सम्पादन में था, क्योंकि वे यह समझते थे कि पुरुषार्थ की पुरुषार्थता इसी में है कि संसार के जंगल से हम मुक्त हों, सभी प्रकार के दुःखों से दूर रहें । यह तभी संभव हो सकता है जब सांसारिक कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन किया जाए । एतदर्थ वैदिक ऋषियों ने 'ऋत'[47] और सत्य[48] को श्रद्धापूर्वक एवं पूर्णनिष्ठा से अपनाया था । ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम और सत्य अर्थात् जीवन की वास्तविकता, जो स्वयं व्यक्ति है, इस तथ्य को जानने अथवा प्राप्त करने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता मानते थे । ऋषियों के चिन्तन से ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए तथा आध्यात्मिक मुक्ति के लिए अथवा आत्मोपलब्धि के लिए वे ऋत और सत्य को श्रद्धापूर्वक जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में प्रतिष्ठित करना ही पुरुषार्थ मानते थे तथा निष्ठा और श्रद्धा से स्वयं को उन दोनों तत्त्वों में समर्पित करने की परम पुरुषार्थ समझते थे । अतः वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थ सर्वथा विलक्षण एवं जीवन की सार्थकता से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध था । वैदिक ऋषियों के गौरवपूर्ण पुरुषार्थ का पूर्ण चित्र हम गीता के उस श्लोक में देख सकते हैं, जिसमें मोहग्रस्त एवं जीवन से पलायन करने के लिए उद्यत अर्जुन को श्रीकृष्ण उसके क्षात्रधर्म के पालन हेतु युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं ।[49] वस्तुतः वैदिक जनों का पुरुषार्थ कुछ ऐसा ही था ।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों द्वारा उपदिष्ट या संकेतित पुरुषार्थ सम्बन्धी उपर्युक्त वचनों के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों का चिन्तन समृद्ध भौतिक जीवन की पूर्णता में ही आध्यात्मिकता के प्रशस्त मार्ग का अन्वेषण करता था । उनका दृढ़ विश्वास था कि नियम और संयमपूर्वक पूर्ण निष्ठा से सम्पादित पुरुषार्थों की व्यापकता और महत्ता लौकिक और पारलौकिक जीवन के अंदर को भर सकती है, क्योंकि कर्त्तव्यों का सुगमता पूर्वक सम्पादन और परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति-भावना का प्रदर्शन पुरुषार्थ के माध्यम से ही सम्भव है, जैसा कि गीता भी संकेत करती है ।[50] अतः वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थ त्रिविध (आध्यात्मिक, आदिदैविक और आधिभौतिक) दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु नहीं था, प्रत्युत भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिए था, जिससे आध्यात्मिक सिद्धि का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाता है ।

संदर्भ :

1. गीता, 2.46
2. गीता, 4.7
3. मनु०, 7.100 : धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः (अग्निपुराण)
4. महाभारत, 3.179.29
5. सांख्य-सूत्र, 1.1 : अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।
6. यजु०, 40.14 : विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
   अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते ॥
7. मनु०, 6.96 : एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
8. बृहदारण्यक, 4.4.5 : यथाकारी यथाकारी तथा भवति.....।
9. ऋ०, 10.12.2, 10.191.2-4 आदि मन्त्र ।

10. छान्दोग्योप०, 1.1.10 पर
11. तदेव, 1.10.10 : यदेव विद्या करोति श्रद्धायोपनिषदा तदेव वीर्यत्तरं भवति ।
12. शत० ब्रा०, 2.1.3.9 : न श्वः श्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद । तथा द्रष्टव्य तदेव, 2.3.1.25, 26, 28 भी ।
13. ऋ० 10.128.4
14. यजु० 2.10
15. यजु०, 34.1-6
16. यजु० 34.1-6 मन्त्र ।
17. ऋ०, 6.52.5
18. तदेव, 10.128.1 : मह्यं नमन्ता प्रदिशश्चतस्रः .....।
19. यजु०, 40.2 : कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
20. तदेव, 40.2 : एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।
21. गीता, 3.7-8 : यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
शरीरयात्राणि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥
22. ऐत० ब्रा०, 33.3 : चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
23. द्रष्टव्य० यजु०, 18.13, 15 आदि मंत्र एवम् ।
अथर्व०, 8.10 (4).12 आदि मन्त्र ।
24. ऋ०, 9.113.11 : यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुदः आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥
25. तैत्ति० उप०, 3.10.6 : यः एवं वेदाइत्युपनिषत् ।
26. अथर्व०, 12.1.54 : अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाऽस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥
27. ऋ०, 10.166.2 : अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ॥
28. ऋ०, 8.46.22 : षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता ।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा ॥
29. तदेव, 10.101.8 : व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रच्चमसो दृहंता तम् ॥
30. तदेव, 6.75.1 : यजु० 29.38 : धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वाना तीव्राः समदो जयेम ।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥
31. तदेव, 6.75 (सम्पूर्ण सूक्त) ।
32. तदेव, 10.101.3-5 : युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया निराहावान्
कृणोतन सं वरत्रा दधातन ॥ इत्यादि ।
33. ऋ०, 10.34.13 : अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ॥
34. तदेव, 4.47, 5.45.6, 10.108.1, 10.155.1, यजु०, 34.38, अथर्वः, 3.15.6, 3.17 (सम्पूर्ण सूक्त)

35. अथर्व०, 7.50.8 : कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो सव्य आंहित: ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥
36. तदेव, 7.50.7 : गोभिष्टरेमामतिं दुरेवा यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥
37. तदेव, 6.122.3 : अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधाना: सचन्ते ।
38. तदेव, 12.2.26 : अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखाय: ।
तदेव, 12.2.27 : उत् तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्र जहीत मे असन्नशिवा: शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्॥
39. अथर्व०, 18.2.23 : उदह्नमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
40. तदेव, 20.18.3 : इच्छन्ति देवा: सुन्वन्तं स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्रा: ॥
41. तदेव, 20.94.4 : ओज: कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा.....।
42. अथर्व०, 20.73.6: तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शव: ।
43. तदेव, 20.21.1 : नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ।
44. तदेव, 20.60.3 : मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते.....।
45. तदेव, 20.125.6 : बाधतां द्वेषो अभयं न: कृणोतु सूवीर्यस्य पतय: स्याम ।
46. यजु०, 40.7 : यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत: ।
तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत: ॥
47. ऋ०, 4.23.8 : ऋतस्य हि शुरुध: सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
तदेव, 4.23.9 आदि मन्त्र, ऋ० 10.85.1 : ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति।
48. तदेव, 10.37.2 : सा मा सत्योक्ति : परिपातु विश्वत: ।
तदेव, 10.85.1 : सत्येनोत्तभिता भूमि:, तदेव, 9.113.4 : सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन्।
तदेव, 9.113.5 : सत्यमुग्रस्य बृहत: इत्यादि ।
49. गीता, 2.37 : हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चय: ॥
50. तदेव, 18.46 : यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: ॥